वेदों में आयुर्विज्ञान के मूल-तत्त्व

प्रो. युगल किशोर मिश्र

प्राणिमात्र में आधि-व्याधि-रहित दीर्घ जीवन की कामना नैसर्गिक रूप में है।[1] वेद का यही उपदेश है कि मनुष्य को कर्मरत रहते हुए सौ वर्ष जीने की अभिलाषा रखनी चाहिए।[2] सक्रिय यशस्वी जीवन के लिए शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों की दृढ़ता, मानसिक प्रफुल्लता एवं यज्ञ-कर्मों से सम्पृक्ति अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं। अतएव इनके लिए वेदमंत्रों में प्रार्थना की गयी है।[3] वेदों में सुस्वास्थ्य के लिए न केवल आध्यात्मिक एवं आधिदैविक उपचार वर्णित हुए अपितु आधिभौतिक उपचारों की भी स्थापना हुई, जिसे भैषज्य विज्ञान, आयुर्विज्ञान या चिकित्साविज्ञान शाखा के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त हुई। आयुर्विज्ञान का वेद से साक्षात् सम्बन्ध होने के कारण ही भारतीय आचार्यों ने इसे भी अनादि एवं नित्य माना है। इस सन्दर्भ में आचार्य चरक की ये पंक्तियाँ अत्यन्त मननीय हैं–**''सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात् स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात्, भावस्वभावनित्यत्वाच्च''**।[4]

वेद-प्रतिपादित आयुर्विज्ञान शाखा में प्राचीन ऋषि-महर्षियों ने निरन्तर शोधप्रक्रिया चालू रखी और कालान्तर में इस शाखा को इतना विकसित एवं समृद्ध किया कि इसे उपवेद के रूप में मान्यता मिली, जिसका उपजीव्य *अथर्ववेद* माना गया।[5] प्रारम्भ में समग्र आयुर्विज्ञान एक रूप में था तथा इस समग्र शास्त्र का ज्ञान एक ही साक्षात्कृतधर्मा पुरुष (=ऋषि) कर लेता था। कालान्तर में दूरदृष्टि वाले महर्षियों ने आगामी सन्तति को अल्पायु एवं अल्पमेधस् जानकर इसके आठ विभाग की आयोजना की जिसे द्वापर युग में भगवान् धन्वन्तरि ने परिष्कृत एवं विकसित कर लोकहित की दृष्टि से प्रवर्तित किया।[6] ये आठ विभाग इस प्रकार हैं–

(i) काय चिकित्सा, (ii) शल्य-चिकित्सा, (iii) शालाक्य-चिकित्सा, (iv) कौमारभृत्य (बाल-चिकित्सा), (v) भूतविद्या (ग्रह-चिकित्सा), (vi) अगदतन्त्र (विष-विज्ञान), (vii) रसायन एवं (viii) वाजीकरण

वेद के सदृश आयुर्वेद के दो सम्प्रदाय–वेद के दो सम्प्रदाय माने जाते हैं–(i) ब्रह्म सम्प्रदाय, (ii) आदित्य सम्प्रदाय। यह सर्वविदित है कि सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा के द्वारा चारों वेदों का प्रवर्तन हुआ। इसे ब्रह्मा ने अपने प्रमुख शिष्यों, ऋषिगणों आदि को उपदिष्ट किया। इसे वेद का 'ब्रह्म-सम्प्रदाय' कहा जाता है। इसके अतिरिक्त योगि-याज्ञवल्क्य द्वारा भगवान् सूर्य की आराधना से प्राप्त जो *शुक्लयजुर्वेद* का पञ्चदशशाखात्मक वाङ्मय था, वह 'आदित्य सम्प्रदाय' के नाम से विख्यात हुआ। पौराणिक अनुशीलन से आयुर्वेद के भी इसी प्रकार दो सम्प्रदाय परिलक्षित होते हैं। *ब्रह्मवैवर्तपुराण* के अनुसार प्रजापति ने चारों वेदों का गहन अनुशीलन कर आयुर्विज्ञान (=आयुर्वेद) प्रस्थान की स्थान की।[7]

आचार्य चरक के अनुसार ब्रह्मा से आयुर्वेद का ज्ञान दक्ष प्रजापति ने ग्रहण किया, प्रजापति से अश्विनीकुमारों ने, उनसे इन्द्र ने तथा इन्द्र से अत्रि, अग्निवेश आदि ऋषिगणों को शास्त्र प्राप्त हुआ।[8] इस प्रकार ब्रह्मा से प्रवर्तित होने के कारण इसे आयुर्वेद का "ब्रह्म सम्प्रदाय" कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त *ब्रह्मवैवर्तपुराण* में एक अन्य सम्प्रदाय का भी उल्लेख हुआ है, जिसे भास्कर (आदित्य) सम्प्रदाय कहा गया है। इसके अनुसार भगवान् भास्कर ने वेदों में निहित चिकित्साशास्त्र के तत्त्वों का अवलोकन कर एक स्वतन्त्र संहिता का निर्माण किया और उसे अपने शिष्यों को पढ़ाया, जिन्होंने अपने अनुशीलन से संहिताओं का निर्माण कर इस प्रस्थान को और विकसित किया।[9] इस प्रकार आयुर्वेद के दो सम्प्रदाय माने जाने चाहिए–(i) ब्रह्म सम्प्रदाय, (ii) भास्कर या आदित्य

सम्प्रदाय। यह भी एक अद्भुत साम्य है कि ब्रह्मा ने तथा भास्कर ने जिन शिष्यों को आयुर्वेद प्रस्थान का उपदेश किया वे प्रायः सभी वेदमन्त्रों के द्रष्टा के रूप में सर्वानुक्रमणी आदि ग्रन्थों में वर्णित है। अतः ऐतिह्य की दृष्टि से यह बात पुष्ट होती है कि वेद एवं आयुर्वेद के प्रवर्तक एवं उपदेशकों की परम्परा बहुत घुली-मिली है।

वेदों के विभाजन के समान आयुर्वेद का विभाजन–सृष्टि के आरम्भ से द्वापर युग तक जिस प्रकार एकात्मक वेद का अध्ययन प्रवर्तित था तथा द्वापर में महर्षि व्यास द्वारा वेदों का चार विभाजन किया गया, उसी प्रकार प्रारम्भिक अवस्था में आयुर्वेद समग्र रूप से एकत्र संकलित था, किन्तु द्वापर युग में भगवान् धन्वन्तरि ने इसका आठ विभाग कर दिया।[10]

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि धन्वन्तरि शल्यचिकित्सा (Surgery) के महान् आविष्कर्त्ता थे। धन्वन्तरि का शाब्दिक अर्थ है–शल्यचिकित्सक या शल्य-वैज्ञानिक। आचार्य डल्हण ने लिखा है कि–"धन्वं शल्यं शास्त्रं तस्यान्तं पारम् इयर्ति गच्छति इति धन्वन्तरिः।" इस प्रकार प्राचीन वेदज्ञ महर्षि औषधिचिकित्सा के साथ शल्यचिकित्सा के पारङ्गत विद्वान् थे, यह सर्वथा सिद्ध है। वेदों में शल्यचिकित्सा के अद्भुत उदाहरण दृष्टिगत होते हैं। *तैत्तिरीयसंहिता* के एक प्रसंग के अनुसार दैवभिषक् अश्विनीकुमारों ने देवगणों की प्रार्थना पर कटे हुए यज्ञशिर का सफलतापूर्वक प्रत्यारोपण किया, जिसके सम्मानस्वरूप अश्विनीकुमारों का यज्ञ में भाग निर्धारित किया गया।[11] *ऋग्वेद* के एक मन्त्र के अनुसार अश्विनीकुमारों ने "विश्पला" नामक राजमहिषी की कटी जंघा के स्थान पर आयसी (लौहमयी) जंघा का प्रत्यारोपण किया था।[12] सुश्रुत के वर्णन के आधार पर यह ज्ञात होता है कि विक्षत नासिकी पर त्वचा का संश्लेषण कर अंग-सौष्ठव करने की विधि भी विकसित थी। पाश्चात्य चिकित्साशास्त्री डा. न्यूवर्जर ने भारतीय शल्यचिकित्सा की महत्ता को स्वीकारते हुए आधुनिक प्लास्टिक सर्जरी का मूल भारतीय पद्धति को माना है।[13] प्रो. वेबर ने भी अपने ग्रन्थ में लिखा है कि शल्य-विज्ञान में भारतीयों को विशिष्ट कौशल प्राप्त रहा है।[14] भारतवर्ष में बौद्ध धर्म के प्रभाव से शल्य-चिकित्सा का न केवल विकास अवरुद्ध हुआ, अपितु ह्रास प्रारम्भ हो गया। अतः बौद्ध धर्म का आदर्श सिद्धान्त अहिंसा था; अतः धर्मान्ध जैन-बौद्ध मतानुयायियों ने शवच्छेद कार्य पर रोक लगा दी। अशोक के शिला-लेखों में शव के चीर-फाड़ का निषेध उपलब्ध होता है। इस प्रकार शल्य विज्ञान के शोध-कर्त्ता, चिकित्सकों एवं छात्रों को अपने परीक्षण एवं अध्ययन के लिए शव को साधारण रूप से प्राप्त करना असम्भव हो गया, फलतः शल्य-विज्ञान की यह अतिविकसित वैदिक-परम्परा विलुप्त होती चली गयी। वैदेशिकों का जब भारत आगमन हुआ तो उन्होंने ग्रन्थों के आधार पर इस विधि की जानकारी प्राप्त की तथा अपने देश में उस पर अनुसन्धान एवं प्रयोग करते हुए प्रावीण्य प्राप्त कर लिया।

वेदों में रोगोत्पत्ति के सिद्धान्त–वैदिक ग्रन्थों में रोग की उत्पत्ति के प्रमुख चार कारण माने गये हैं। (1) आन्तरिक विष-संचय, (2) जीवाणु या कृमि, (3) त्रिदोष, (4) मनस्ताप या मनोविकार।

(1) आन्तरिक विष-संचय–*अथर्ववेद* के मन्त्रों[15] के अनुसार जीव-शरीर के भीतर विभिन्न रासायनिक दूषण एवं अन्य अस्वास्थ्यकर कारणों से विष की मात्रा शनैः-शनैः संचित होने लगती है, जो समय पाकर शरीर में विकार उत्पन्न कर देती है। इसके शमन हेतु *अथर्ववेद* के मन्त्रों में विभिन्न रोगों के कारणभूत विषों को बाहर निकालने का उल्लेख किया गया है। आज के चिकित्सा शास्त्री भी विषरूप मल को रोगोत्पत्ति का एक कारण स्वीकार करते हैं। आयुर्वेदज्ञों ने मल की व्याख्या करते हुए कहा–"मलिनीकरणान्मलाः"। अर्थात् जो विजातीयतत्त्व (मल या विष) दूषण पैदा करते हैं वे मलपदवाच्य हैं। इन विजातीय तत्त्वों के शरीरगत प्रतिरोधक क्षमता से अधिक

मात्रा में संचित हो जाने पर रोगोत्पत्ति होती है। 'विष' शब्द विष्लृ व्याप्तौ धातु से बना है। जो खाते ही शरीर में व्याप्त हो जाता है उसे विष कहते हैं।[16] विष के पर्याय के रूप में वेद में 'मदावती' शब्द का प्रयोग[17] भी मिलता है, जिसका अर्थ–'खाने से मद उत्पन्न करने वाला' है। नशीले पदार्थ इसी कोटि के विष हैं जो मद उत्पन्न करते हैं; किन्तु जिनका अधिक सेवन घातक हो जाता है। विष की दो श्रेणियाँ मानी गई हैं–(1) स्थावर विष[18] (2) जंगम विष[19]। इनमें पृथ्वी, पर्वत, औषधि और कन्द आदि से निकाला गया स्थावर विष तथा सर्प, वृश्चिक, मशक, क्रिमि आदि से प्राप्त होने वाला जंगम विष कहा गया है।

(2) जीवाणु या कृमि–कृमि द्वारा रोगोत्पत्ति का वेदों में विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। आचार्य यास्क ने कृमि पद का विवेचन करते हुए कहा–क्रव्ये मेद्यति, क्रमतेर्वा स्यात्सरणकर्मणः कामतेर्वा।[20] क्रव्य अर्थात् कच्चेमांस (अथवा दूषित वस्तु) में मेदन अर्थात् पुष्ट होने से कृमि कहे जाते हैं, जो कि सरणशील (रेंगते) होते हैं। *अथर्ववेद* के मन्त्रों में जलीय जीवाणुओं, पार्थिव कृमियों एवं वायवीय जीवाणुओं का उल्लेख किया गया है।[21] कृमि या जीवाणु स्थूल रूप से दो प्रकार के हैं। एक वे जो चक्षु आदि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष किये जा सकते हैं तथा दूसरे वे जो अदृश्य होते हैं। इसके अतिरिक्त वेदमन्त्रों में कृमियों की नई श्रेणियाँ (प्रजातियाँ) भी बतलायी गई हैं, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं–

जायान्य–एक पुरुष से दूसरे के शरीर में संक्रमित होने वाले जीवाणुओं की 'जायान्य' संज्ञा बतलाई गई है।[22] ये छींक, जँभाई एवं श्वासादि के माध्यम से बाहर निकलकर दूसरे के शरीर में प्रविष्ट होते हैं। राजयक्ष्मा के कृमियों को वैदिक साहित्य में इस श्रेणी का माना गया है।

अन्वान्त्र–मनुष्यों और पशुओं की आँतों में उत्पन्न होने वाले कृमि 'अन्वान्त्र' कहे गये हैं।[23]

खलजा–(शकधूमजा)–मल-मूत्रेन्द्रियों के माध्यम से संसर्गदोषों के कारण प्रविष्ट होने वाले कृमि 'खलजा' कहे गये हैं।[24]

राक्षस–"रक्षितव्यमस्माद्, रहसि क्षिणोति इति वा रात्रौ नक्षत इति वा"–इन व्युत्पत्तियों के आधार पर ये वे कृमि हैं जो प्राकृतिक असन्तुलन, दूषित पदार्थों के प्रयोग तथा दूषित वातावरण से मानव शरीर में प्रविष्ट होकर विकार पैदा करते हैं।[25]

पिशाच–'पिशितमश्नाति' इस व्युत्पत्ति के आधार पर कच्चे मांस के खाने, अपक्व या अर्धपक्वादि भोजन करने से उत्पन्न कृमि को 'पिशाच' शब्द से व्यवहृत किया गया है।

यातुधान–"यातु (गन्ता) धीयते (अभिधीयते) तथा यातनां दुःखं दधति ते यातुधानाः"–इन व्युत्पत्तियों के आधार पर उड़ने वाले, डंक मारने वाले कीट मत्कुणादि 'यातुधान' कहे गये हैं।

गन्धर्व–"गां वाणिं धारयतीति" इस व्युत्पत्ति के अनुसार गायक (गुंजन करने वाले) कृमि को 'गन्धर्व' कहा गया है। मच्छर आदि इसी कोटि में आते हैं।

अप्सरस्–ऐसे कीटाणु जो जल में अत्यन्त सूक्ष्म रूप में घुले मिले रहते हैं तथा जल पीने के माध्यम से मनुष्य-शरीर में प्रविष्ट होकर रोग पैदा करते हैं। इसकी व्युत्पत्ति 'अप्सारिणी भवति' यह की गयी है।

किमिदी–शरीर के फेफड़े, श्वास नली, हृदय की झिल्ली आदि आवरणों को छलनी करने वाले कृमि इस कोटि में आते हैं। इनके अतिरिक्त वेद-मन्त्रों में शताधिक अन्य कृमि प्रजातियों का वर्णन मिलता है, जिनका

उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं है। कृमिजन्य रोगों की चिकित्सा का भी वर्णन विस्तृत रूप से वेदों में मिलता है। इस प्रकार आधुनिक चिकित्सा-पद्धति का जीवाणुवाद का सिद्धान्त वेद-प्रसूत ही है।

(3) त्रिदोष–तीन धातुओं–वात, पित्त, कफ (श्लेष्म) के असन्तुलन से रोगोत्पत्ति होती है, यह वैदिक सिद्धान्त है, जिसे आयुर्वेद में विस्तृत रूप से विकसित किया गया है।[26] 'य एकमोजं त्रेधा विचक्रमे' इस *अथर्ववेदीय* मन्त्र में प्रयुक्त 'त्रेधा' पद का विश्लेषण करते हुए आचार्य सायण ने 'वात-पित्त-श्लेष्मलक्षणदोषत्रयकारि देवात्मना' यह अर्थ किया है। इसके अतिरिक्त 'यो आभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्' इस मन्त्र की व्याख्या में आचार्यों ने अभ्र शब्द से कफ तथा शुष्म से पित्त को ग्रहण किया है। *ऋग्वेद* के अन्य मन्त्र में देवभिषक् अश्विनीकुमारों से शरीर के त्रिधातुओं के सन्तुलन की प्रार्थना की गयी है।

त्रिदोष के सन्दर्भ में यह बात ध्यातव्य है कि इसका मूलाधार वैदिक त्रिदेवतावाद है। निरुक्तकार आचार्य यास्क ने अग्नि, वायु (या इन्द्र) तथा सूर्य (=सोम) ये तीन मूलभूत दैवततत्तव माने हैं।[27] इन त्रिदेवों का सीधा सम्बन्ध त्रिदोष अर्थात् वात-पित्त-कफ से है। इस सिद्धान्त की ओर संकेत करते हुए आचार्य ने 'सोमसूर्यानिलास्तथा' इस पंक्ति के द्वारा वात-पित्त-कफ की इनके प्रतिनिधि रूप में शरीर में अवस्थिति बताई है और कहा है कि–'वायोरात्मैवात्मा, पित्तमाग्नेयः श्लेष्मा सौम्य इति।' आचार्य चरक ने उपर्युक्त सिद्धान्त के उपबृंहण में त्रिविध रोगों का उल्लेख करते हुए कहा–'अतस्त्रिविधा व्याधयः प्रादुर्भवन्ति-आग्नेयाः, सौम्याः, वायव्याश्च।[28] प्राच्य आयुर्वैज्ञानिकों के अनुसार पित्त के अन्तर्गत अग्नि ही कुपित होने पर अशुभ एवं अकुपित रहने पर शुभ का कारण बनता है। इसी प्रकार श्लेष्मा (कफ) एवं वात के अन्तर्गत क्रमशः सोम एवं वायुकुपित या अकुपित रहने पर अशुभ या शुभ के कारण बनते हैं।[29] जिस प्रकार सोम, सूर्य और अग्नि विसर्ग, आदान और विक्षेप इन तीन क्रियाओं के द्वारा जगत् को धारण करते हैं, उसी प्रकार इन्हीं क्रियाओं के द्वारा वात, पित्त और कफ मानव-शरीर को धारण करते हैं।[30]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि आयुर्विज्ञान के वेत्ताओं ने त्रिदेववाद के आधार पर त्रिदोष की अवधारणा की तथा रोगों के आधिदैविक उपचार-मन्त्राराधन, जप, यज्ञ, वैदिकशान्तिकर्म आदि की ओर संकेत किया तथा इनके अनुष्ठान से रोगशमन एवं सुस्वास्थ्य की प्राप्ति का दिग्दर्शन कराया है।

(4) मनोविकार या मनस्ताप–मन के शोक-मोहग्रस्त होने तथा शिवेतर-संकल्पयुक्त होने से ईर्ष्या, शोक, क्रोध, अहंकार, द्वेष आदि मनोविकार उत्पन्न हो जाते हैं जो मानव मस्तिष्क, बुद्धि एवं शरीर को असन्तुलित कर देते हैं, जिससे प्राणि का अनुदिन क्षय होने लगता है। इन सभी रोगों की उत्पत्ति का मूलकारण आचार्य चरक ने प्रज्ञापराध माना है।[31] प्रज्ञापराधयुक्त मनुष्य धी, धृति, स्मृति, विभ्रष्ट होकर अनुचित कार्य करने लगता है जिससे उसके शारीरिक एवं मानसिक दोष प्रकुपित हो जाते हैं।[32] इसके कारण उन्माद, नशाखोरी आदि रोगों की उत्पत्ति होती है। मनस्ताप या मनोविकारजन्य व्याधियों की निवृत्ति के लिए वेदों में शिवसंकल्प सूक्त का प्रयोग तथा कई अन्य उपचार निर्दिष्ट किये गये हैं।

रोगोत्पत्ति का आध्यात्मिक पक्ष–उपनिषदों के अनुसार पञ्चमहाभूतों के संयोग से सजीव सृष्टि होती है। आत्मा और मन इसके अन्यतम तत्त्व हैं। ब्रह्माण्ड प्रकृति में जब किसी कारणवश विक्षेप या व्यतिक्रम उत्पन्न होता है तो पिण्ड शरीर (व्यष्टि) पर भी उसका प्रभाव अवश्य पड़ता है जिसके कारण पञ्चतत्त्वों में से किसी तत्त्व का असन्तुलन हो जाता है। फलतः उसका सीधा प्रभाव मन एवं शरीर पर होता है जो आनुषंगिक रोगोत्पत्ति का

कारण बनता है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे रोग जो व्यक्ति में जन्मकाल से रहते हैं उनके कारण पूर्व-जन्मार्जित पाप या अधर्माचरण माने गये हैं जिन्हें "दैव" संज्ञा से भी अभिहित किया गया है।[33] पूर्व-जन्मार्जित कर्मविपाक[34] रोग रूप से उद्भूत होते हैं। अतएव कहा गया है-"पूर्वजन्मकृतं कर्म पाप रोगरूपेण जायते।" इन रोगों के शमन के लिए वेदानुमोदित कर्म[35] गृह्यसूत्रों एवं स्मृतिग्रन्थों में विस्तार से प्रतिपादित किये गये हैं। आयुर्वेद के आचार्यों ने भी अपने ग्रन्थों में इनका वर्णन किया है।

वेदोक्त विविध चिकित्सा-पद्धतियाँ-वैदिक चिकित्सा-पद्धतियाँ मूल रूप से दो वर्ग की हैं-(1) दैवव्यपाश्रय तथा (2) युक्तिव्यपाश्रय। अथर्ववेद के भाष्यकार आचार्य केशव के अनुसार इन दो वर्गों का आधार व्याधियों का द्वैविध्य है। इनमें पूर्वजन्मार्जित कर्मविपाकजन्य रोगोंका उपचार दैवव्यपाश्रय वर्ग का विषय है तथा आहारादि बाह्यनिमित्तों से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा युक्ति-व्यपाश्रय वर्ग के अन्तर्गत आती है।[36]

वेदों के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि उपर्युक्त दोनों वर्गों के लिए चार प्रकार की चिकित्सा पद्धतियाँ विकसित थीं जो इस प्रकार हैं-(1) आंगिरसी, (2) मनुष्यजा, (3) दैवी (प्राकृतिक), (4) आथर्वणी।

(1) आंगिरसी-इस चिकित्सा विधि में विविध वनस्पतियों एवं पशु-पक्षियों के उत्सर्जित तत्त्व, उनके अवयवों, रासायनिक यौगिकों तथा विषों के आवश्यकतानुसार प्रयोग द्वारा रोगमुक्त किया जाता है। इस आंगिरसी चिकित्सा-पद्धति की प्रकृति कुछ अंशों तक आधुनिक (Allopathy) चिकित्सा विधि से मिलती है।

(2) मनुष्यजा-मानव द्वारा निर्मित की गई औषधियों यथा-चूर्ण, अवलेह, भस्म, कषाय आदि द्वारा जो चिकित्सा की जाती है उसे मनुष्यजा चिकित्सा कहते हैं। आजकल इसे Drug Therapy या औषधि-चिकित्सा के नाम से अभिहित किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत खनिज, समुद्रज, प्राणिज, उद्भिज्ज पदार्थों का औषध द्रव्यों के रूप में प्रयोग किया जाता है। मनुष्य की शल्य चिकित्सकों द्वारा विविध उपकरणों (औजारों) की सहायता से की जाने वाली शल्यचिकित्सा (Surgery) भी इसी के अन्तर्गत परिगणित होती है।

(3) दैवी या प्राकृतिक-जल, अग्नि, वायु, सूर्यकिरण, प्राणायाम, भावातीतध्यान, धारणा, समाधि, योगासन, व्यायाम आदि के द्वारा जो रोगोपशमन किया जाता है उसे दैवी या प्राकृतिक चिकित्सा कहा गया है। आजकल इसे Naturopathy कहा जाता है।

(4) आथर्वणी-इसके अन्तर्गत मन्त्रचिकित्सा, मणि- (रत्न) चिकित्सा, यज्ञ-चिकित्सा आदि आते हैं। विविध मन्त्रों के प्रयोग से ध्वन्यात्मक तरंगों के साथ अदृष्टोत्पत्ति द्वारा रोगशमन किया जाता है। वेदों में ऐसे मन्त्र, विशिष्ट सूक्त प्रतिपादित हैं जिनका सविधि प्रयोग आरोग्यदायक होता है। मणिचिकित्सा में स्वर्ण, रजत, मोती, प्रवाल, हीरक, माणिक्य, नीलम रत्नों तथा अन्य प्रतिपादित मणियों के धारण तथा उनकी किरणों का शरीर पर प्रयोग कर व्याधिनाश किया जाता है। यज्ञ-चिकित्सा में विविध काम्येष्टियों का प्रयोग किया जाता था, जिसके द्वारा सन्तानप्राप्ति एवं अन्य व्याधियों का शमन किया जाता है। मनोवैज्ञानिक चिकित्सा, सम्मोहन चिकित्सा आदि भी आथर्वणी चिकित्सा-पद्धति के अन्तर्गत आती है जिसे आजकल Psychotherapy के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

इस प्रकार वेदों में निहित आयुर्विज्ञान के तत्त्वों का दिग्दर्शन हमें प्राप्त होता है। वैदिक भाषा की पदावलि में अनेक अर्थों को धारण करने की अपूर्व विशेषता है जिसके कारण यह कई प्रस्थानों की जन्मदात्री है। अतएव आचार्यों ने इस वाणी को रहस्यगर्भा कहा है। आवश्यकता इस बात की है कि स्वाध्यायतप:पूतदृष्टि से सतत चिन्तन एवं मनन किया जाय जिससे ज्ञान के बहुविध आयाम प्रतिभासित हो सकें।

संदर्भ

1. "A keen desire to live a long and healthy life or a hundred years was the natural outcome of the optimistic and robust outlook which the ancient Indian had in life. Their healthy slogan was - "prevention is better than cure" - The Vedic Age : Dr. R.C.Majumdar.
2. 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।' मा. सं. 40/2
3. 'स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः।' मा. सं.
4. चरक सू. 30/25
5. 'इह खलु आयुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रं च कृतवान् स्वयम्भूः। सु. सू. 1/3
6. द्र. वायुपुराण 40/23
7. "ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यान् दृष्ट्वा वेदान् प्रजापतिः।
   विचिन्त्य तेषामर्थञ्च आयुर्वेदं चकार सः।। (ब्र. वै. पु., ब्र. ख. अ. 16)
8. ब्रह्मणा हि यथाप्रोक्तमायुर्वेदं प्रजापतिः।
   जग्राह निखिलेनादावश्विनौ तु पुनस्ततः।।
   अश्विभ्यां भगवान्शक्रः प्रतिवेदे ह केवलम्। (च. सू. 1/4-5)
9. स्वतन्त्रसंहितां तस्माद् भास्करश्च चकार सः।
   भास्करश्च स्वशिष्येभ्य आयुर्वेद-स्वसंहिताम्।
   प्रददौ पाठयामास ते चक्रुः संहितास्ततः।
   तेषां नामानि विदुषां तन्त्राणि च कृतानि च।। ब्र. वै. पु., ब्रह्म ख. अ. 16/10-12
10. द्र. वायुपुराण 40/23 एवं सु. सं. अ.।
11. यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत ते देवा अश्विनावब्रुवन् भिषजौ वै स्थ इदं यज्ञस्य शिरः प्रति धत्तमिति तावब्रूतां वरं वृणामहै ग्रह एव तावत्रापि गृह्यतामिति ताभ्यामेतमाश्विनमगृह्णन् ततो वै तौ यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्ताम्। तै. सं 6.4.9.1
12. ऋग्वेद 1/116/15
13. "The plastic surgery of the 19th century was stimulated by the examples of Indian Methods"- *History of Medicine.*
14. In Surgery too the Indians seem to have attained a special proficiency and this department European surgeons might perhaps, even at the present day still learn something from them, as indeed they have already borrowed from the operation of Rhinoplasty. - *History of Medicine* by Weber.
15. *अथर्ववेद* 4/8/10
16. *वही* 10/4/22
17. *वही* 4/7/4
18. *वही* 4/7/4
19. *वही* 10/4/22
20. *निरुक्त* 6/12
21. *अथर्ववेद* 2/20/9
22. *वही* 2/31/4

23. *वही* 3/31/4
24. *वही* 8/6/15
25. *वही* 7/58/2
26. The special feature of the Ayurvedic system is that it bases the explanation of the origin of all disease as due to the lack of balance of the *tridoṣas* - *vāta, pitta* and *kaphas.* It is said that the Ayurvedic science is based on the three guṇas - *sattva, rajas* and *tamas.* - *History of Hindu Medicine* by G.N.Mukhopadhyay.
27. *निरुक्त* अ. 1/4
28. *चरक* नि. 1/4
29. अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति।
    सोम एव श्लेष्मान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति ·····। चरक सूत्रस्थान 12/13
30. विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिलास्तथा।
    धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा।। सु. 2/18
31. ईर्ष्याशोकभयक्रोधमानद्वेषादयश्च ये।
    मानविकारास्तेऽप्युक्ताः सर्वे प्रज्ञापराधजाः।। च.सूत्र. 7.52
32. धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत्कुरुतेऽशुभम्।
    प्रज्ञापराधं तं विद्यात्सर्वदोषप्रकोपकम्।। च. शरीर. 1.102
33. पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते।
34. वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिषश्चैव कर्मणाम्।
    फलन्त्यनुयुगं लोके प्रभावश्च शरीरिणाम्।। मनु. 1.84

महामपोहाध्यायचिन्नस्वामिशास्त्रिणां

35. It is special feature of the Ayurvedic treatise that many prescriptions of medicines for various diseases are also associated with the prescription of certain rituals : *japas* and *pūjās*, which are characteristically based on Hindu religion and Dharma. It is believed by every Hindu that disease is only a transformation of sins commited by him in his previous birth. To remove that sin and its transformation, viz; the disease the medical treatment of te disease alone is not sufficient but the performance of certain *prāyaścitta* which would give full effect to the treatment given is also necessary. - *History of Hindu Medicine* by G.N.Mukhopadhyay.
36. तत्र द्विविधा व्याधयः। आहार-निमित्ताः, अन्यजन्मपापनिमित्ताश्च। तत्राहारनिमित्तेषु चरकवाग्भटसुश्रुतेषु व्याध्युपशमनं भवति। अशुभनिमित्तेषु अथर्ववेदविहितेषु शान्तिकेषु व्याध्युपशमनं भवति। अथर्वभाष्य भाग-1 पृष्ट 32 (होशियारपुर संस्करण)

•